

भारती की कविताएं

पांचाली—शपथ

अनुवादिका
श्रीमती आनन्दी रामनाथन

संशोधक
श्री युगजीत नवलपुरी

भूमिका—लेखक
श्री आर० पी० सेतुपिल्लै

प्रथम संस्करण 1966
साहित्य अकादमी, दिल्ली

(3)¹ हस्तिनापुरी – वर्णन

हस्तिनापुरी था नाम । अवनि में अद्वितीय
नगरी थी । वीथी-वीथी उसकी थी सुपंक्त ।
हिमगिरी-से सुधा-धवल थे उसके धाम-सौंध,
मुक्ताहल-झलमल थीं अटारियां । अलिगुंजित
उद्यान-कुसुम । थे ताल शुक्तिमय; रति जैसी,
रमणियां जहां पर जलक्रीडारत रहती थीं ।

असि-शूल-शरासन-गदा-व्यसन शूरों के भुज ।
गिरितुंग, प्रलंबित-कुसुमहार, रणकलासिद्ध,
सायं-प्रातः रिपुदारक-शस्त्राभ्यास-निरत,
एकाकी भी शत-शत-कुंजर-वध-सक्षम थे ।

मधुघोष गीत का, ललित लास ललनाओं का,
रसकाव्यों की रचना, गुणियों के कारुकर्म
चलते ही रहते थे उस नगरी में सतत ।
बलवत् तुरंग, रथ बृहत्, मतंग-मतंगज थे ।
रहती थी भारी भीड़ देखती मल्लयुद्ध ।
खनियां थीं प्रचुर-प्रदा, मणियां थीं प्रचुर-प्रभा;
प्रियदर्शन प्रियसौरभ थीं प्रिय पुष्पावलियों;
धूपादि अधिकगंधी; रसाल फल; स्वादु अन्नः
सब सुखसाधन थे सुरदुर्लभ; था नित्य हर्ष ।

¹ प्रस्तुत संस्करण में अनंतभुक्त उपशीर्षक: (१) बह्म स्तुति' और (२) सरस्वती-वंदना ।

(4) दुर्योधन—सभा

कज्जल—श्यामल—जल, अति—गंभीर—तल, दीर्घ—पटल,
अवगाहसुखद—रमणीय—मधुरपानीय—सलिल
यमुना है, जिसके कांचन तट पर भव्य नगर
था बसा, जहां उन्नत—कुरुराज—फणीकेतन,

विख्यात, साहसी, अनतभाल दुर्योधन की
थी बनी राजधानी । दुर्योधन का भुजबल
था शत—शत—गज— बल—पुंज! तभी तो वेद—व्यास
कह उठे कि 'यदि हठ —बैर ठान ले दुर्योधन,
तो बंधु—गहन के लिए भी बने दावानल' ।

भुजबली महाराज वह पित्राज्ञानुसार
करता था राज । अनेक राजनीतिज्ञ वृद्ध
मंत्रीगण उसकी राजसभा की शोभा थे :
चिरकीर्ति—अमर, धर्मज्ञ पितामह भीष्म ; पूज्य
ब्राम्हणकुलसंभव क्षत्र—वीर आचार्य—युगल² ;

ऋतविज्ञ विदुर इत्यादि । पार्षदों में कुवृत्ति
राजानुज; कुक्रिय शकुनि आदि यदि थे तो क्या
कर्णादि उदाराशय, दानी प्रतिभाशाली,
रणशूर, स्वाभिमानी, स्वमुक्ति—अनभिज्ञ तथा
राजा के प्राणों के समान प्रिय जन भी थे ।

² कृपाचार्य और द्रोणाचार्य (ब्राम्हण होकर भी कर्म और शौर्य से क्षत्रिय आचार्य'द्वय) ।

(5) दुर्योधन की ईर्ष्या

धनराशि अपरिमित, एकछत्र राज्याधिकार,
भू पर अनन्यजनलभ्य सैन्य सागर—विराट्,
सुरपुर में सुरपति—सुलभ सकल सुख के साधन
नरपुर में पाकर भी अतुष्ट धृतराष्ट्रपुत्र
जलता रहता था: 'जब तक ये पांडव भू पर
फिरते हैं सिर उंचा कर, तब तक मेरा यह
पौरुष पौरुष क्या, राज राज क्या, यश यश क्या ?

गांडीवी पुरुषभ अर्जुन की आंखों में,
प्रभविष्णु भीम के हृत्तल में जो अंकित है
अपमान—भाव मेरे प्रति, वह भूलूं कैसे ?
कर लिया यज्ञ यदि धर्मराज ने, तो क्या वह
हो गया अधीश्वर भारत भर के भूपों का ?
क्यों नारदादि मुनि सिद्ध कर रहे यही बात ?
वह तो कहिये यदुवंश—चोर ने चाल चली
एवं अनुजों के भुजबल की मिल गई टेक,
सम्राट् बन गया वह कापुरुष युधिष्ठिर भी!
कैसे भूलूं उपहारों की वह अमित राशि

जो लाये थे अयुतायुत भूप मुकुटधारी
एवं सामंत—प्रमुख: बहुमूल्य महीन वस्त्र,
अगणित मणिकांचन—हार, रमणियां सजी—धजी
अगणित, अगणित सज्जित तुरंग, रथ सजे—धजे ?

आकाश टूट पड़ने पर भी जो किंचित् भी
विचलित हो पाता नहीं, वही पाषाण—हृदय
यों खिन्न हो रहा था, ईर्ष्या में जलता था,
ज्यों ज्वालामुखी स्वनिर्गत द्रव्य द्रवानल में
झुलसे । समस्त भूताप फूटकर उमड़ पड़े
ज्यों, त्यों ही उपचित ईर्ष्या भड़की, झुलसा मन ।

दुर्योधन अपना पौरुष, दृढ़ता, मान, शक्ति,
सब भूल व्यथित अबला—सा, बालक—सा व्याकुल

हो उठा । किंतु निमिषांतर में ही पापबुद्धि
चेती: 'चाहे जो हो, जैसे भी हो, परन्तु,
पांडव का जीवन नाश मुझे करना ही है!'

वह पापतुर था, किन्तु 'पाप यह कैसे हो'—
इसका उपाय कुछ सूझ न पाता था उसको ।
इतने में शठता—कपट—मूर्ति अपने मामा
शकुनि का ध्यान उसके मन में सहसा आया ।
पहुंचा मामा की शरण । कही मन की । उसांस
भरकर अपने जी का गुरुभार किया हल्का ।

सम्राट युधिष्ठिर—श्रेष्ठानुष्ठित राजसूय,
उस महायज्ञ में महावृष्ट अमितोपहार,
अमितार्घ रत्न—हीरक—मणि मौक्तिक—हेम—हार,
उपहारों से भी बढ़कर हार्दिक अर्घ्य मान
जो धर्मराज को प्राप्त हुआ था अनायास;

इन बातों से एवं इनकी प्रतिक्रिया—रूप
अपने मन की जो दशा हुई थी, उसका भी
विवरण विस्तार—सहित मामा की सेवा में
वह धूर्त निवेदन करने लगा चतुरता से ।

(7)³ शकुनि की चाल

ईर्ष्या से कुढ़े वचन दुर्योधन के सुनकर
मामा शकुनि ने कहा, 'बस इतनी बात — अजी,
लो, अभी आज ही विजयी तुम्हें बनाता हूं ।
छोड़ो भी व्यर्थ विमर्शन, मेरी बात सुनो:
बनवाओ एक निराला दिव्य सभामंडप,
आमंत्रित कर उसके अवलोकन के निमित्त
बुलवाओ पांडुसुतों को;— फिर अवसर पाकर
हम उन्हें द्यूतक्रीड़ा के लिए करें उद्यत;
बस क्या है, एक पहर में ही अपना सरबस

³ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: (६) शकुनि के प्रति दुर्योधन का वचन ।

हारेंगे और तुम्हारे दास बनेंगे वे ।
शकुनि का द्यूत कौशल तो तुमसे छिपा नहीं !

‘यह नहीं कि उनसे रण करना हो शक्य नहीं ;
पर कौन कहे रण में जय हो कि पराजय हो ?
फिर, पांडव भी ऐसे— वैसे रणवीर नहीं !
अर्जुन—धनु ही अनुपेक्ष्य, नहीं जिसका द्वितीय !
यह अनुपपन्न मान्यता कि अनुचित अक्षवती !
अक्षजितविपक्ष हुए हैं कितने पूर्वनृपति !

सोचो तो, राजा रण करते हैं किस निमित्त ?
बस इसीलिए न कि मिलें देश, जन और वित्त ?
या रक्तधार—शवराशि देख हों हृष्टचित्त ?
यदि अक्ष जीत दे देश प्रजापूरित सवित्त,
तो बने पहर में काम, मिटे चिंता समस्त ।
मेरा तो मत बस यही ।’

—शकुनि जब हुआ मौन,
सुनकर उसका खल—वचन खिल उठा दुर्योधन ।
अपना मणिकांचन हार दिया उपहार उसे
एवं बोला, “यही कही पते की ! धन्य—धन्य
मामा! जग में तुम—सा हित मेरा नहीं अन्य ।’
फिर होकर हर्ष—विभोर शकुनि को गले लगा
छाती से कसकर चिपकाया दुर्योधन ने ।

(15)⁴ मंडप—निर्माण

“यह शिल्प—श्रेष्ठ का कलित कम्प्रतम कलाकर्म !”
‘यह सुन्दरतम सपना रस—सिद्ध कवीश्वर का !’
‘यह कलासिद्धि का चमत्कार !’ ‘यह कलासिद्धि ।’
—ऐसे प्रशस्तिमय वाक्य देश में गूंज उठे,

^४ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: (८) धृतराष्ट्र के प्रति शकुनि का वचन, (९) धृतराष्ट्र का उत्तर, (१०) दुर्योधन—कोप (११) दुर्योधन का कटु वचन, (१२) धृतराष्ट्र का प्रत्युत्तर, (१३) दुर्योधन का प्रतिवचन, और (१४) धृतराष्ट्र की स्वीकृति ।

उस दिन से जिस दिन कांचन—मणि—माणिक्य—जटित
उस दिव्य सभामंडप की पूर्ण हुई निर्मिति !
मानो वह निर्मिति काव्यरसोद्रेचक कोई
घटना हो अथवा हो सुरम्य रसकाव्य स्वयं !

(16) विदुर—दौत्य

बुलवाकर अपने अनुज विदुर को महाराज
धृतराष्ट्र उन्हें दूतत्व सौंपकर यों बोले:
“ले यथायोग्य उपहार सभी के लिए आप
भ्रातृपुत्रों के पास जाइए इन्द्रप्रस्थ ।
कहिये कि ‘आपके स्नेही ताउ कौरवेश
सस्नेह निमंत्रण प्रीतिभोज का देते हैं ।
पांचों पांडव—भाई पधारिये सपत्नीक ।’
फिर उन्हें सर्वजन—मुक्तकंठ—शंसित नवीन
इस राजसभा—मंडप की निर्मित से अवगत
करके कहिये संदेश की इस बूढ़े का जी
कब से यह चाह रहा था : उनको बुलवाता !
उस राजसूय से प्रत्यागत होते ही यह
संकल्प हुआ कि : किसी दिन अपने नामधन्य
प्रिय कृती भतीजों को बुलवा लूं किसी ब्याज !
यह प्रीतिभोज मिलने का एक बहाना है ।”

(17) विदुर—प्रयाण

अग्रज का अनुशासन लेकर चल पड़े विदुर ।
लांघे अनेक अटवी—अपगा—अवनीधर—पुर ।
गंतव्य : सुदृढ़भुजहृदय—पंचपांडव—प्रदेश—
हृद्देश राजधानी सुरम्य । पथ—वितत देश
था प्रचुर शस्य—सम्पन्न । देखकर उसकी श्री,
यह सोच विदुर हो उठे विवशता—कातर—धी :
यह नील—किरीटी गिरिराजों का पुण्यदेश,
यह सुधा—सलिल—स्त्रोतस्विनियों से धन्य देश,
यह उपयोगी द्रुम—व्रतति—वनस्पति—रम्य देश,
उपवनों—वनों—उद्यानों का यह कर्म देश,

जगदुदरपूर्ति—क्षम धान्यराशि—प्रद उर्वर भू
पय—दधि—घृत—मधु—सेवन—सुपुष्ट—जन—प्रजा—प्रसू

यह धर्म कर्म सबमें उदात्त—गुण—शील देश,
उद्योग—कला—साधना—सिद्धि से श्रील देश,
यह शौर्य—विमंडित तत्त्व—ज्ञान से दीप्त देश,
यह विद्या—यागादिक से उज्ज्वल—दीप्ति देश,
चोर्यादि पाकर्मों से परिचय भी न लेश,
जिसका, वह विश्वशिरोमंडनमणि—तुल्य देश,
भारत छ— इस भारत के विनाश के हेतु, हाय,
बन रहा आज मैं कैसे दुर्जन का सहाय !

(18) विदुर का स्वागत

हो अति प्रसन्न सुन तात विदुर के आने की,
पांडव वीरों ने मंगलौघ, चतुरंग चमू,
वादित्र—वृन्द, उपहार—राशि इत्यादि संग
लेकर अगवानी के निमित्त प्रस्थान किया ।
नतशिर हो उनके श्रीचरणों में स्नेह—भरे
स्वर में कुशलादिक पूछ, ले गए राजभवन ।

(19) विदुर—निमन्त्रण

आसीन स्वर्ण—मंडप में पांचों पांडव थे;
एकांत देखकर उनसे कहने लगे विदुर :
'गिरितुंगबाहु, यश के महान् भागी, पुनीत,
श्री के एवं भू के अनन्य स्वामी, अधीत
बहुश्रुत विद्वद्वर, धृति—धुरीण, राजाधिराज
धृतराष्ट्र आप—सबके प्रति शुभकामनापूर्ण
आशीर्वाचन करते हैं :

‘पांचों चिरंजीव
चिरंजीवी हों, सब दिव्य श्रेय के भागी हों
कल्याणयुक्त हों ;
उनका यह संदेश सुनें :

‘मंगल—श्री—युत हस्तिनापुरी में अद्वितीय
रमणीय, जगत् भर में अनन्य परिष—मंडप—
निर्माण आपके सभी भाइयों ने मिलकर
करवाया है ; उसकी अद्भुत श्री के दर्शन
कर लें आकर, मेरा सप्रेम निमंत्रण है !’

‘सप्रेम निमंत्रण प्रीतिभोज का भी भेजा
है महाराज ने । एक बात, प्यारे पुत्रो,
अपनी भी बतला ही दूं मैं यह भेद—भरी :
दुर्योधन खो बैठा है अपना शील ; मूर्ख
वह धूर्त शकुनि के बहकावे में आया है :
उसका मनोग है : मंडप—दर्शन के निमित्त
आमंत्रित होकर आप अक्षदेवी—प्रेरित
किल्बिष में फंस दुरवस्थ हो रहें ! हा कुचक !’

(20) धर्मपुत्र का उत्तर

सुन विदुर—वचन हो उठे विकल—मन धर्मराज ।
बोले : “सुनकर परिषन्मंडप—निर्माण तथा
द्यूतायोजन की बात, क्लेश से पीड़ित मन
रह—रहकर आशंका से भी भर रहा, आर्य !
शुभचिंतक तो है नहीं हमारा दुर्योधन ।
उस पर विश्वास करें हम, यह क्या संभव है ?”

(22)⁵ धर्मपुत्र का निश्चय

आदेश तात का, अवर—तात का तात—दौत्य !
आगा—पीछा करना अब मेरा धर्म नहीं !
जो भी होना हो सो हो, चिंता नहीं मुझे !
आदर्श हमारा : निश्चय राम—धनुर्धर का !
निंदा का काम कदापि नहीं हमसे होगा !
चिरमान्य नीतिपथ पर ही सदा चलेंगे हम !

⁵ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: ‘(२१) विदुर का प्रत्युत्तर’ ।

राजाधिराज के पालनीय अनुशासन के
अनुपालन में दुविधा अनुचित; अनुवृत्ति धर्म !
रणवीर भीम, कल-परसों दो दिन हैं, प्रस्तुति
कर लो; उपवनशोभी हस्तिनापुरी-यात्रा
करनी है; सज लो रथ-गज-तुरग-पदाति सैन्य !

(26)⁶ पांडव प्रयाण

चारों अनुजों, पांचाल-वंश की सजी ज्योति,
समुचित मंगल-वादित्र-ओघ, अगणित-परिजन
एवं चतुरंग चमू संग लेकर धर्मपुत्र,
जिसने न किसी का कभी बुरा चाहा, प्रस्थित
अपनी नगरी को छोड़ वहां के लिए हुआ,
था जहां पराहितकामी लोगों का निवास !
जो भी पथ दिखलायें बिधना के आयत कर,
उससे हटने की किसमें है सामर्थ्य भला ?

विधना चाहे तो अनहोनी भी होती है :
मृगपति शृगाल के जालक में फंस जाता है ;
चींटी भी कुंजर का जीवन हर लेती है ;
कृमि भी रेखिल चीते का वध कर देती है ;
अपने ऊपर बहती सरिता की धारा में
औंधा या सीधा बहता है गिरि निरालंब ;
हो जाते हैं मति भ्रांत भविष्यद्-वेत्ता भी ;
नीचों की स्तुति करते हैं धर्म-धुरंधर जन !
क्या-क्या न कराता वाम विधाता जगती में ?⁷

⁶ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: '(२३) भीम की विरोक्ति', '(२४) धर्मपुत्र का दृढ़निश्चय' और '(२५) चारों भाइयों की स्वीकृति' ।

⁷ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: '(२७) संध्यावर्णन

(29)⁸ पांडवों का स्वागत

हस्तिनापुरी में आर्य पांडवों का आना सुनकर
 उमड़ा घर-घर से, गली-गली से, जनसमूह-सागर ।
 तिल धरने तक को ठौर नहीं था कहीं नगर में शेष ।
 अचरज तो था: जह जनता अब तक रहती थी किस देश !

कुरुराज-भवन में हुए वयःक्रम से प्रविष्ट पांडव ।
 परिषदासीन दृग्धीन तात के प्रति स-विनय-मार्दव
 प्रणिपात निवेदित किये उन्होंने, आशिस्-वरण किये ।
 फिर पूज्य पितामह गंगात्मज के पूजित चरण किये ।
 फिर धनुर्वेद-परग-कृप-द्रोणदिक-गुरु-चरणों पर
 माथे टेके । गुरुपुत्रों का भी नमन किया सादर ।
 फिर दानवीर अंगाधिराज, अहिकेतन दुर्योधन,
 उसके अनुजों एवं मामा शकुनि का समालिङ्गन
 करके प्रसन्नमन हुए । यथोचित मानादर के साथ
 साध्वी गांधारी आदि नारियों को भी जोड़े हाथ ।

चंदनचर्चा से, सुरभिसुमन-सज्जा से, सुरभिमयी
 युवतियां सुनाती थीं वीणा पर मोहक गीति नयी ।
 सुश्रव ध्वनि के मोहन में पांडव निद्रामग्न हुए ।
 भावी दुख से डर भला आर्य कब चिंतामग्न हुए ?
 आगत-अनिष्ट-वारण ही उनका सदा इष्ट होता ।
 उनका चरित्र अंतर की निश्छलता-विशिष्ट होता ।

⁸ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: '(२८) सरस्वती से प्रार्थना ।'

(30) सभामंडप में पांडवों का आगमन

रवि से पहले जागे पांडव सुनकर वैतालिक—गान ।
फिर देव—वंदना—लीन हुए वे अतुलितभुज बलवान ।
सुन्दर दुकूल, आभूषण, आयुध आदि किये धारण ।
परिषन्मंडप की ओर चले ; कुरुनेता दुर्योधन
अपने दुश्शील कौरवों के संग जहां विराजित था ।
गांगेय, धर्मप्रिय विदुर, विप्रकुल, राजामात्य तथा
देशांतर के राजन्यवर्ग भी पहले से आसीन
हो चुके वहां थे । पापाक्रांत, कुमति, अधर्म में लीन
दुर्योधन के सब पुत्र—मित्र इत्यादि उपस्थित थे ।
पांडव जा सांजलिबंध बृहत् मंडप में खड़े हुए ।

(31) पण—निमंत्रण

‘आओ हे धर्म, पधारो,’ स्वागत—वचन शकुनि बोले ।
‘ये सुबलबाहु नृप बड़ी देर से राह देखते थे ।
भू—विजय उपार्जित की है तुमने प्रबल धनुर्बल से ;
कुल—कीर्ति बढ़ाई है । अब देखें तो तो, कितना बल है
पांडव में, अक्षवती—रण—दक्षिण कितना कौशल है ?’

(32) धर्मराज का अनंगीकार

सुन धर्मराज ने कहा : ‘आर्य, छलसद्म कितव के हेतु
बुलवाया है हमको ! बतलायें मर्यादा का सेतु :
क्या कितव—महत्ता है ? औचित्य भला उसका क्या है?
क्या न्याय द्यूत का है ? —मेरी अभ्रांत धारणा है
सुख—शांति हमारी नहीं आपको तनिक सुहाती है !
मन मलिन आपका है ? —हठ कर शठता इठलाती है !
बस इसीलिए तो आप समुद्यत हैं कि लोक—परलोक
दोनों बिगाड़कर हमें दलें ? —हा हीन कर्म ! हा शोक!’

(33)⁹ शकुनि का उपालंभ

सुन अट्ठहास कर उठे शकुनि शास्त्रवत्-द्यूत-समधीत ।
बोले : 'रहने दो बड़ी-बड़ी बातें, रहने दो नीति !
हम तो समझे थे तुम सम्राट बड़े हो, सम्पद-वान् ;
कुछ हारो-जीतोगे भी तो आपत्ति न लोगे मान ।

जो हो, आशंका तो छोड़ो, हो चुकी बड़ी ही देर !
प्रस्तुत है देवन, शारि, शारिफल अब मत करो अबेर !
जय सिद्ध तुम्हें है, जीत तुम्हारी होगी क्यों न भला ?
चिन्ता छोड़ो, ले लो पाशक !' – आग्रह शकुनि ने किया !

(37) अक्षवती

स्वीकार अभिग्रह किया युधिष्ठिर ने । छल वाला अक्ष
जब उठा लिया तो शकुनि हर्ष से मत्त ठोककर वक्ष
चिल्लाया । धर्म-सुनीति-शील-विद् स्नेही विदुर समान
सब बंधु मूक हो रहे ; मूढमति-से हो रहे सुजान ।

पण पर मणिहार लगा अमूल्य, विनिमय-धनराशि लगी ।
पल-मात्र लगा, जीता मातुल ; उसकी चल गई ठगी ।
फिर से 'सुवर्णपूरित सहस्त्र घट' अनघ युधिष्ठिर ने
जो दांव बदे,— ले लिया धूर्त ने ; पलक तक न गिरने
पा सकी । 'महाजव बृहत् स्वर्णरथ' फिर पण रखा नया ;
पाशक था फिका नहीं कि शकुनि वह पण भी मार गया !
दल-के-दल गोधन, सेवक, परिजन, पण बद-बद हारे !
निष्ठुर शकुनि ने युधिष्ठिर को तब यों मिहने मारे :
“रुक गए भला क्यों धर्मपुत्र, अब भी कुछ नहीं कमी;
लो पाशक और लगा दो पण इस बार राज्यलक्ष्मी !”

⁹ अनंतभुक्त उपशीर्षक: '(३४) धर्मपुत्र का प्रत्युत्तर,' '(३५) शकुनि का अभिग्रह,' '(३६) धर्मपुत्र का अभिग्रहांगीकरण' ।

(38) विदुर की आपत्ति

उठ बोले विदुर : “अय्य ? यह क्या ? यह क्षत्रधर्म है ? छिः !
क्या तुले हुए हो पांडव—राज्य—हरण पर सचमुच ही ?
सह लेगी सर्वसहा इसे क्या ? क्षमा करेगा स्वर्ग ?
धिक् धूर्त पुत्रगण ? तुम्हीं कहाते उच्च चन्द्रकुल—सग ?

पांडव सह लें, पर पांडव—सुहृद जनार्दन—द्रुपदादिक यदि
हो गए कुपित तो कर देंगे कुलवृक्ष—नाश बीजावधि !
समवेत सभी कुरु—क्षत्रिय पुत्रों से करबद्ध विनय है :
रणबीज न बोओ, वरन् नाश निश्चय, ध्रुव—भाव्य निरय है !

यह कभी न सोचो, धर्म—भ्रष्ट हो सुखी बनेगा जीवन !
इस धूर्त शकुनि का द्यूत मित्र को शत्रु करेगा । जग—जन
प्रति—निमिष करेंगे भर्त्सन । जग से निंदित होकर शासन
करने की इच्छा क्या समुचित ? सोचो तो स्थिर करके मन !
बस अभी रोक दो अक्षवती ! —मंगल का पथ केवल यह !”
यों विदुर व्यथा से मथित हृदय से करते रहे सदाग्रह ।

(41)¹⁰ दुर्योधन का प्रतिवचन

“हे कृतघ्न निर्लज्ज विदुर ? तुम नमक हमारा खाते;
 पर हमसे चिर—द्रोह निभाते, चिर—दिन नाश मनाते !
 तुम्हें पिता ने मान दिया !—कैसे कुछ उन्हें कहूं मैं ?
 वृद्ध—बुद्धि को कितना कोसूं ?—कितनी हानि सहूं मैं ?
 पांडव के प्रति लगन तुम्हारी, उदर—भरण कौरव से !
 जन्मजात यह वृत्ति तुम्हारी लक्षित है अनुभव से !
 बड़े न्यायधर्मज्ञ, पारखी सत्यनीति के बनकर,
 लेकर पांडव—पक्ष, हमारी क्षय के रचते चक्कर !
 भरी सभा है, खुले बोल हैं, यथा—रीति पण—जय है !
 इसमें कैसा नीति—दोष है, किस अधर्म का भय है !
 किसे सुनाते नीति ? —यहां हम डाका डाल रहे हैं !
 अथवा वंचकता के, छल के, जाल संभाल रहे हैं !”

(42) विदुर वचन

“नरपति, मत अनसुनी करो; हित—वचन भले अप्रिय हैं!
 इस परिषद् के सबल क्षत्र, ब्राम्हण अमात्य, सब—के—सब
 परम पतित, जड़ नीच, दुराचारी, भ्रंशित, निष्क्रिय हैं!

भले अकिंचन हूं, विधिगति का ज्ञाता मन निश्छल ह!
 इसीलिए हे वत्स, तुम्हें अवहित कुचक्र से करना
 चाह रहा थ; अब समझा : कुछ भी कहना निष्फल है!”
 विदुर मौन हो रहे । झुकाये गरदन फिर से आसन
 ग्रहण कर लिया । किल प्रसन्न हो उठा : ‘टिकूंगा अब मैं !
 सुर प्रसन्न हो उठे : ‘मचेगा घोर महाभारत—रण !’

^{१०} अनंतभुक्त उपशीर्षक, ‘(३९) पराशक्ति—स्तवन, ‘(४०) सरस्वती—स्तवन ।

(43) अक्षवती का नवपर्याय

फिर से पड़ने लगे अक्ष, फिर अक्षवती गरमाई ।
चतुर शकुनि का आग्रह बढ़ा : “युधिष्ठिर, मन मत हारो ;
नवोत्साह से लौटा लो, जो भी संपत्ति गंवाई !”
रक्षक गृह का, विग्रह का विक्रय ज्यों करे पुजारी,
त्यों ही धर्मनीति के ज्ञाता धर्मराज ने अपना
राज्य दांव पर रखा, गंवाया ! धिक्—पातक यह भारी !
शासक—वर्ग प्रजा को मनुज नहीं पशु गिनता भरसक !
रचीं सत्य या नीति—तत्त की विविध पोथियां यद्यपि,
राज्यविधान तथापि न समुचित मनुज रच सका अब तक !

(44) शकुनि वचन

“सरबस गंवा चुके धर्मात्मज ! शेष कथा यह केवल :
‘धर्मराज धोरी था कोई श्रीधरणी धरणी का !’
मेरी सुनो ! रखो वह पण कि फिरे धनधाम चलाचल !
हुए अकिंचन, किस धन पर सानुज निर्वाह करोगे ?
हम न चाहते : खेल अभागा तुम्हें बना दे याचक !
बली, वीर, पण योग्य अनुज हैं ; ग्लह इनको न धरोगे?

गुहापिहिति—अहि—फूत्कृति सांसें भरीं भीम ने भीषण !
अर्जुन का कंदर्प—सौम्य मुख मुरझाया । व्रत—नैष्ठिक
नकुल हुए निश्चल । त्रिकाल—दर्शी कनिष्ठ हत—भाषण !
दहल उठा गांगेय—हृदय । दुस्सह—रोषान्वित नृपगण
लगे हांफने । शिथिल विदुर का बुरा हाल था । बेबस
रहे देखते सभी श्वाधमाक्रांत पंच—पंचानन ।

(45) पण : सहदेव

‘सदा—ब्रम्हचिंतनरत, जीवन खेल समझकर रीता
सदानंद रहने वाले अनुपम मनस्विवर पण हैं !’
धर्मराज ने पांसा फेंका, दुष्ट शकुनि ने जीता ।

(46) पण : नकुल

नकुल हुए पण और युधिष्ठिर खो बैठे उनको भी ।

(47) पण : पार्थ

‘कण्णन् का प्रिय सखा ; हमारा कनीनिका—सा प्यारा ;
रूप, रंग, बल, चरित, तेज में बढ़ा—चढ़ा सुर से भी ;
अगणित गुणनिधि, कृती, वीर अर्जुन को जीतो; हारा!’
मायावी मातुल मन—ही—मन फूला । माया पाशक
कर में लेकर अंक बताया, अंक वही चित आया !
पीतल को भी कनक बनाते चतुर, छली, जग वंचक !

(48) पण : भीम

‘पंचपांडवाग्रही, मूल—बल—सा पांडव—शासन में,
सम्मुख रण में परमदेव पर भी अधिकक्षम—विक्रम,
दीर्घशुण्डकुण्जरबहुगुणबल भीम जीत लो पण में !’
समरनिहत—गज—पतन—मुदिन प्रेतादि और पललादन
गृध्र—काक—श्वापद—शृगाल—से चिल्लाये, बर्राये,
उछले, भुज ठोंके, प्रहृष्ट झूमे या वक्ष फुलाये
फिरे धूर्तजन बली भीम पणविजित देख प्रमुदित मन !

(49) पण : स्वयं धर्मपुत्र

मत्त—चोर—से कौरव थे । पर नीच शकुनि मुसकाया ;
पूछा : ‘अगला दांव ?’ — युधिष्ठिर सुधि भूले थे ; बोले :
‘मैं ही बचा !’ — उन्हें भी लील गई मातुल की माया !

(50) दुर्योधन—वचन

उठ बोला दुर्योधन: ‘पांडव—भाग्य हुआ अस्तगत ;
तेज बुझा । अब —सनिधि सकल धरणी हो गई हमारी ।
राजाओ, जय बोलो ; जय—संवाद करो जगदवगत !’

(51) शकुनि-वचन

“अभी नहीं । अब भी संभव है पलटे पांडव-व्याहति ;
पलटें देश, प्रजा, धन, सोदर, मान आदि यदि पण हो :
सुभगा पांडव-प्रिय द्रुपदजा—सुधा-धार, विद्युद्द्युति !”
शकुनि-वचन सुन दुर्योधन-मन मधुकल्पन में हुलसा ।
क्षुद्र श्वान मधुकलश-स्पृष्ट में जीभ फेरता हो ज्यों,
‘एवमस्तु’ बोला दुर्योधन मुद मन । सन्नय झुलसा ।

4. चीरहरण

(52) पण : द्रौपदी

पांचाल—देश की फलित—सुकृति वह, संजीवनी सुधा वह,
उत्कृष्ट कलाकृति, आद्य कल्पना, ज्योति—रूप करुणा वह,
धरती की श्री, निधि असंधेय एवं अपूर्व, तड़िदाकृति,
गतिमति कुसुमवल्लरी भव्य वह सुखद स्वप्न की संस्मृति,
गति प्रणयमूर्ति, आनंद—राशि, वह संचिति सुन्दरता की
वह पांडव—प्राणपिया पांचाली, पण—भर द्यूत—सभा की
थी बना दी गई । आर्य युधिष्ठिर ने पापिष्ठ—सभा में
रख दिया दांव पर उसे ; धकेला दुष्टों की दंष्ट्रा में !
कहीं उपानच्चर्म के लिए लालित लालों का वध
किया किसी ने ? सती द्रौपदी पण हो : संभव वीवध ?
धूर्त शकुनि ने पाशक अवहित फेंका द्यूत प्रगत कर ।
बोला : 'यह लो ?'—और लिया माया—पाशक के बल
पर ।

(54)¹¹ दुर्योधन—वचन

दुर्योधन बढ़ गले मिला शकुनि से, हृष्ट हो बोला :
"प्रिय मामा, संताप मिटाया तुमने बहा फफोला !
दूर किया अपमान, कसक मेटी जो साल रही थी,
प्रिया मामा, इस नारी के उपहासों ने जो दी थी ।
अधीनस्थ ही है अब तो यह गर्वित पाण्डव—दारा ।
प्रिय मामा, कैसे भूलूंगा यह उपकार तुम्हारा ?

ऋण से उऋण नहीं हो सकता हूं मैं कभी कृपा के !
प्रिय मामा, तुमने हैं प्राण बचाये प्यास बुझाके !
बलि दूंगा, प्रार्थना करूंगा सदा तुम्हारे हित मैं !
प्रिय मामा, चिर द्वेष मिटा, चिंता से हुआ रहित मैं !
निष्कण्टक सुख का भविष्य विस्तृत है मेरे सम्मुख !

¹¹ अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: '(५३) द्रौपदी के वश में आने से कौरवों का हर्षाल्लास' ।

प्रिय मामा, वर्णनातीत, जो तुमने दिया मुझे सुख !”
 उछल-उछल दुर्योधन बकता रहा हर्ष में विह्वल
 मानो उछल रहा हो, कूद रहा हो उल्लासाचल ।
 झूम-झूम तालियां बजाता रहा । सभा में ऊधम
 रहा । सभावर्ती-जन-चेष्टांकन में भाषा अक्षम !

(56)¹² दुर्योधन-वचन विदुर के प्रति

आर्य विदुर से त्वरा-त्वरित स्वर में बोला दुर्योधन :
 “विदुर, सोचते क्या हो ? अंतःपुर में पहुंच इसी क्षण
 उस सुभ्रू पांचालराज की प्राणसमा दुहिता से,
 दासी जो बन गई हमारी अक्षवती-जितता से,
 सभा घटित वृत्तांत कहो । फिर उसे यहां पर लाओ ।
 कल के जेठ आज के स्वामी का संदेश सुनाओ :
 कहो कि सेवा-हेतु तुम्हारे नव-स्वामी दुर्योधन
 राजसभा-मंडप में तुम्हें तलब करते हैं फौरन !”

(57) विदुर का उत्तर

दारुण दुर्योधन-वचन श्रवण कर अति-सकोप
 हो आर्य विदुर यों बोल उठे : “शांतम् पापम् !
 मत बनो मूर्ख ! तुम अकथनीय अनुचित बातें
 कह गए बहुत हे पुत्र ! —जानते नहीं, वत्स,
 कितना अनिष्ट इससे हो सकता, इसीलिए
 तुमने मुंह से इन शब्दों को उच्चरित किया !
 नन्हा मृगशावक ज्यों मृगेन्द्र पर झपट पड़े,
 भिड़ जाय नाग से ज्यों कोई मंडूक-बाल,
 क्यों पांडु-सुतों का कोपानल भड़काते हो ?
 क्यों करते हो अपमान सती पांचाली का ?
 दे रहा मंत्रणा मैं वह, जो हित की होगी,
 अब और किसी से मुझे नहीं कुछ कहना है :

^{१२} अनंतभुक्त उपशीर्षक: ‘(५५) दुर्योधन के द्रौपदी को भरी सभा में तलब करने से जगत् में घटित अनिष्ट’ ।

यदि आज नहीं तो कल पांडव बदला लेंगे,
तब आहत होकर वत्स, धरा पर लोटोगे ;
क्यों अपने पांवों आप कुल्हाड़ी मार रहे ?
क्या अपना सत्यानाश कराकर दम लोगे ?
कैसी निष्ठुरता है ? क्या सुनी न वेन—कथा ?
उसने संतों के कोमल हृदय दुखाये थे ;
कीड़े—सा कुचला गया नीचतम पापी वह !
कहना हृद्दाहक वचन कहां का शील, कहो ?
उससे तो केवल मर्मघात ही संभव है !
दुर्जन के मुख से सहज निकल जाता ; परंतु
उसके मन से न कदापि, जिन्हें आहत करता !

यह पाप भयंकर है ; इसमें न पड़ो राजन् !
होओ न भ्रष्ट हे पुत्र ! मान भी जाओ अब
कुरुनंदन, फिर कहता हूं : दुखा—दुखी का मन
सुख—शांति न मिलने की ! तुम लालच में आकर
कर रहे भयंकर अकरणीय । इससे अनिष्ट
होगा भीषणता में अभूत श्रुत—दृष्ट—पूर्व ?

लौटा दो सविनय और क्षमायांचापूर्वक
पांडव को अक्षवतीजित पांडव का सरबस ।
यह करो प्रार्थना भी उनसे : अज्ञानजनित
अपराध तुम्हारे वे कृपया न रखें मन में ।
वे इन्द्रप्रस्थ को लौटें कुशल—क्षेम—पूर्वक ।
यदि किया न अपने अपराधों का निराकरण
तुमने, तो है अनिवार्य महाभारत का रण !
अब भी यदि चेत न गये समय रहते राजन्
तो नाश तुम्हारा ध्रुव है !”—वे हित —भरे वचन
कटु लगे विदुर के ; गरज पड़ा दुर्योधन :

“बस करो ; तुम्हारी तो लत—सी है यह असहन,
जब भी देखो मुझको दुतकारा करते हो !
पर आज तुम्हारी एक न सुनने का, जो हो !
कोई है ?—कौन ? अरे—हां, सूत ? अभी जाओ
अंतःपुर में; मुझ भारतेश की आज्ञा से

पांडव-पत्नी को राज-सभा में ले आओ !”

तत्क्षण अंतःपुर गया सूत ; पांचाली से
अतिशोकाविष्ट स्वरों में यों बोला विनीत :
“जय देवि, तुम्हारे चरणों में सविनय प्रणाम !
मां, करो धर्म की रक्षा !—आर्य युधिष्ठिर ने

मातुलवत् मातुल आर्य शकुनि से द्यूत खेल
अपना सर्वस्व लगाकर पण पर गंवा दिया :
धन, राज-पाट, सोदर, स्वतंत्रता और स्वयं
अपने को भी जब हार चुके तब देवी को.....
हां, कैसे कहूं ?—कही जाती मुझसे न बात ?
वह अंतिम पण भी आर्य युधिष्ठिर हार गये !
फल विकट हुआ !— उस भरी सभा में आप, देवि,
लाई जायें, इस राजाज्ञा के पालन का
कटुतम कर्तव्य निभाने निपट अभागा मैं
अंतःपुर में आया हूं ! रक्षा करो, देवि !”

पांचाली बोली, “कौन ?—कौन कहता है रे ?
किसकी आज्ञा है, मुझे घसीटा जाय वहां ?
क्या अक्षदेवियों की परिषद् में जाती हैं
कुलवती क्षत्रकुल महिलाएं ?—किसकी आज्ञा
पाकर तुम मुझे बुलाने आये हो ? —कह दो !”

उत्तर में बोला सूत : “देवि, यह आज्ञा तो
है स्वयं महाराजाधिराज दुर्योधन की ।”
पांचाली बोली, “ठीक !—पूछकर आना तो
अपने स्वामी से भला कि मेरे स्वामी ने
जब अक्ष-समर्थ शकुनि के हाथों खोई थी
अपनी सम्मान-प्रतिष्ठा, तब पहले पण में
अपने को रखा कि मुझको रखा उन्होंने था ?
ऐसा तो नहीं हुआ कि विजित होकर पहले
पीछे से मेरे स्वामी मुझको हारे हों ?
जाओ, मेरा यह प्रश्न पूछ दुर्योधन से
इसका उत्तर लाकर फिर मुझसे बात करो !”

जब चला गया वह, द्रुपदसुता एकांत बैठ
हतमुखश्री, अति-व्याकुल अति-व्यथित हुई, उनके
नयनों से आंसू उमड़ चले ;—कंककंपा उठा
अप्रिय आशंकाओं से उनका हृदयस्थल ;
सहमी-सी थहराकर, वह ढह-सी पड़ी, यथा
साक्षात् भूत को देख भीत हो शिशु कोई ।

(60)¹³ दुर्योधन-वचन

सुन सूत-निवेदत द्रुपदसुता-संदिष्ट वचन,
बोला अहिलांछन- लांछित-केतन दुर्योधन :
“अच्छा तो, आई नहीं सूत के कहने से ?
यह भीरु सूत भी भीम-भीत रीता लौटा ?
अब तो यह काम तुम्हीं से होगा दुश्शासन !
मेरे छोटे भैया, तुम लाओ पांचाली ।”

^{१३} अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: ‘(५८) दुर्योधन-वचन सूत के प्रति’ और ‘(५९) दौपदी का तर्क’

5. शपथ

(61) दुश्शासन का द्रौपदी को सभा में लाना

दुर्योधन—वचन श्रवण कर हर्षित दुश्शासन
तत्क्षण ही ताड़ गया अपने अग्रज का मन ।
वह दुश्शासन भी — (उसका थोड़ा— सा परिचय
दे दिया जाय तो प्रासंगिक होगा निश्चय) —

दुष्टता धूर्तता में अग्रज से बढ़-चढ़ कर
था, मद्य-मांस का प्रेमी था ; उसके भीतर
था ज्ञान बुद्धि इत्यादिका का लवलेश नहीं,
कंपित अमित्र रहते, पर जिनसे द्वेष नहीं
वे मित्र स्वजन भी रहते थे उससे बचकर,
मानो उसका संपर्क भूत का हो चक्कर :

यद्यपि बांधों का— सा बल था उसके तन में,
तिल-मात्र विवेक न था तथापि उसके मन में,
था अमित गर्वमद, बिना पिये ही मत्त सतत
रहता था, नानाविध कुकर्म में सदा निरत
दूषित करता था शक्ति ; अतः शिवशक्ति-सरणि
उसकी अनजानी रही सदा ; सुख-शांति-करण ;

सत्यानाशी केवल अधर्म में बहता था,
सत्संगति से तो सदा दूर ही रहता था,
अधिपति अग्रज-व्यतिरिक्त सकल भूजन-व्रजका,
अपने को माना करता था वह ; अग्रज का
आदेश एक भी नहीं टालता था, परन्तु
अन्यथा शील-सौजन्य-शून्य था निटुर जंतु ;

यह जान-बूझकर ही अग्रज ने शब्दस्वल्प
आज्ञा दी : 'लाओ पांचाली ;' —वह व्याघ्रकल्प
गुर्राया ; बोला : 'जो आज्ञा, मैं अभी चला !'
पहुंचा उस भव्य भवन में जहां दुखविह्वला
पांचाली सती खड़ी थी, अवसन्नता मूर्त्त !

पग ठीक उसीकी ओर बढ़ाने लगा धूर्त !

स्पर्शाशंकाभीता वह दूर लगी हटने
'रुक जाव् वहीं पर'—गरज कहा दुश्शासन ने ।
उस नीच कापुरुष के उत्तर में द्रुपदसुता
रुक बोली—गंजदृढ़ोक्ति पिकी—निर्भीक—रूता,

“यह कान खोलकर सुन ले रे शठ :पृथ्वी पर
सशरीर विराजित मानो सुरपुर के निर्जर
जो पांडव हैं, उनकी पत्नी मैं पतिधन्या
एवं पांचाल — नरेश द्रुपद की मैं कन्या ;
यह बात न भूला कोई भी मेरे सम्मुख,
कह रहा असंयत वचन ;——होश में है दुर्मुख ?
अविलंब बता दे अपने आने का कारण ;
अविलंब बता दे और निकल जा कुलदूषण ?”

(62) दुश्शासन के हाथों द्रौपदी की
अवमानना

दुश्शासन बोला : “न तो पाण्डवों की भार्या
तुम रही, न ही अब द्रुपदसुता ही हो आर्या !

तुम तो मेरे अग्रज भूतल—राजाधिराज
दुर्योधन की लौंडी हो, दासी—मात्र आज ।
महती परिषद् के बीच हमारे प्रिय मामा
शकुनि से द्यूत खेलते हुए अपनी वामा
तुमको पण रखा तुम्हारे तब—तक—के—पति ने ;
पण हार गया : अब कोई कैसे तुम्हें गिने
उसकी पत्नी ? —अब अक्षवतीजित दासी भर
तुम हो ; अब हुए तुम्हारे स्वामी अग्रजवर
राजा दुर्योधन । मैं उनकी आज्ञा पाकर
आया हूं लेने तुम्हें । यहां से ले जाकर
मैं भरी सभा में पेश करूंगा तुम्हें ; चलो ।
अब आगे बात न एक करो, कर भले मलो ।
कापुरुष सूत के हाथों भेजी जो पृच्छा

तुमने, उसको सुनने की मुझे नहीं इच्छा !”

‘हह—हह—हह’ करता अट्टहास शठ दुश्शासन
पहुंचा पांचाली के समीप । धर दीर्घ केश
वह लगा खींचने बलपूर्वक । पांडव—देवी
चीत्कार कर गिरी मूर्च्छितहो, टंग गए प्राण ।
पर नीच न माना, आयत केशकलाप धरे
वह उन्हें घसीटे चला । वाट में लोग जुटे
वह आततायिता देख रहे थे टुकर—टुकर !
वे अकर्मण्य नागरिक !—उन्हें क्या कहा जाय ?
वे असाहसी कुत्ते !—आगे बढ़ पशुप्रवृत्त
दुश्शासन को धर पटक धरा पर जा रौद—रांद,
उस देवी को अक्षत अंतःपुर ला न सके !
वे अटल पेड़—से खड़े—खड़े ताकते रहे !
बिलखे भी ; — पर वह अबला—रूदन निरर्थक था !
सुंदरी सती की अस्त—व्यस्त कर दुष्ट क्रूर
धर केश घसीटे लिए वहां पर जा पहुंचा,
थी जहां पतनपंथी पृथ्वीपति कौरव की
वह धर्म—भ्रष्ट परिषद् ! परिषद में जैसे ही
पहुंची पांचाली, रूदन कर उठी धाड़ मार !

(63) भरी सभा से द्रौपदी की न्याय की मांग

द्रौपदी विलख कर करने लगी विलाप : “हाय!
रे हाय भाग्य ! मैं निस्सहाय ! मैं निस्सहाय !
हे प्राणनाथ — पंचायतनी, मैं निस्सहाय !
साक्षी समक्ष रख वैदिकाग्नि, कर पाणि—ग्रहण
क्या इसीलिए करना था सप्तपदी का प्रण ?
इसीलिए कि मुझको आज धूर्त ये पापी जन
कलुषित—अपमानित करें ?” महांतर्दाह—वचन
सुन पार्थ परंतप बली भीम की अर्थमुखर
चितवन अपनी—अपनी उन तुंग भुजाओं पर
जा पड़ी, निरंतर फड़क रहीं थी जो द्रुतलय ।
सहदेव—नकुल के साथ युधिष्ठिर व्यथितहृदय

सिर अनवत किये खड़े थे । बोली पांचाली :

“इस महती परिषद् में कितने महिमाशाली
बहु—श्रुत बहुज्ञ विद्वान, विप्र तप—यज्ञ—वीर,
कितने ही धर्माधर्मतत्त्वमर्मज्ञ धीर
सम्मान्य पूज्य कितने वयस्क जन हैं । कराल
हो उठा न उनका इस अनीति पर रोष—ज्वाल ?
हैं धर्मबद्ध मेरे प्रवीर पति !—हाय कष्ट !
क्या दोष उन्हें दूं ? पर धूर्तों, हो बुद्धिभ्रष्ट
मुझको घसीट कर भरी सभा में ला करके
उपहास कर रहे हो सब भांति सता करके !
क्या नहीं किसी में शेष रहा इतना साहस,
तुमको ललकार कहे कि हो गई अति, बस बस !
हा हा, अब मैं क्या करूं ?”

द्रुपदजा का विलपन,
तड़िदुग्र कौंधती—सी उसकी धारल चितवन
पांडव—हृदयों को रही बेधती । दुश्शासन
यह देख कि जड़वत् मूक बने सब परिषज्जन
हत—श्री बैठे हैं, चिल्लाया उन्मत्त—प्राय
'चुप दासी !'—एवं अन्य अनेक अभद्र—न्याय
अपशब्द सुनाये । सुनकर हंसने लगे कर्ण !
शकुनि ने वाहवाही की । दर्शक थे विवर्ण !

(65)¹⁴ पांचाली की प्रार्थना

“क्या नहीं तुम्हारे भार्याएं, भगिनियां नहीं ?
कल्याण न होगा ;—नारी का अभिशाप न लो ।
कर जोड़ रही हूं ;—दया करो कुछ, कृपा करो ।”
शरविद्ध मृगी—सी तड़प बिलखती पांचाली
बिखराये भूपर कुसुम—सुकोमल कच—कलाप,
रोती ही गई । उधर पापी दुश्शासन ने
दुर्वचन अमर्यादित भाषा अनिश कहे ।

^{१४} अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: '(६५) भीष्म—वचन ।’

दारुणरोदनरत, अस्त—व्यस्त वस्त्रों सिमटी
 द्रौपदी दीन थी ; किन्तु निपट पशु बना हुआ ;
 दुश्शासन फिर भी बढ़ा खींचने केश पकड़ ;
 तब असह क्रोध एवं दुख सहा न गया, भीम
 कसमसा उठे ; जब उनसे रहा न गया, विवश
 आक्रोश उबलकर अग्रज के प्रति फूट पड़ा ।

(66) भीम—वचन

क्या दांव रखा भैया ?—पण पर यह किसे रखा ?
 महिलाकुलदीपक को ? प्रेमल सुंदरता को ?
 भैया जब राज्य गंवाया, हमने सहन किया !
 जब स्वयं हमें ही दास बनाया, सहन किया !
 अब यह तो सहा नहीं जाता !—सहदेव, सुनो !
 अंगारे लाओ, हाथ जला दो अग्रज के !
 इन हाथों ने ही खो दी अपनी ज्वालशिखा !

(67) अर्जुन—वचन

यह भीम—देशना सुन सहदेव—समुद्देशित,
 कुछ तमक धनंजय बोले : “भैया भीम, कहो,
 करते हो कैसी बात ? कहां ? किसके आगे ?
 सच—सच बतलाना, यह सब मन से कहते हो ?
 रोषानल झुलसा रहा तुम्हारी न्यायबुद्धि !
 तुम तभी चक्रवर्ती अग्रजवर आर्य—श्रेष्ठ
 इन धर्मराज को बुरा—भला कहते हो यों !
 पांचाली को पणपर रखना अपराध ; किन्तु
 यह तो सच नहीं कि यह अपराध उन्हीं का है !

यह तो सुविदित ही होगा तुमको ; अक्षवती
 धर्मी जीवन को प्रायः लील लिया करती,
 पर ‘जीत अंत में सदा सत्य की होती है’—
 यह सत्य चिरंतन हृदयंगम कर लें जग—जन ;
 इसके निमित्त हमको निमित्त—भर बना—बना
 यह खेल स्वयं ही खेल रहे हैं भाग्यदेव !

चुपचाप देखते चले चलो वे अभी और
 क्या—क्या हमसे आगे—आगे करवाते हैं !
 धीरज धरना है हमें । आज हम बंदी हैं,
 इसलिए धैर्य ही धर्म हमारा है । वह दिन
 निश्चय ही आयेगा, जब धर्म जयी होगा !
 गांडीव पास में है अपने ; चिंता क्यों हो ?”

(70)¹⁵ द्रौपदी का कृष्ण को गुहराना

करने को भरी सभा में ‘मां’ का चीरहरण,
 उद्यत दुश्शासन उठकर उधर बढ़ा जिस क्षण,
 चीत्कार कर उठे विदुर : ‘हाय भगवान् हाय!’
 तत्क्षण मुर्छित हो कटे पेड़—से निस्सहाय
 गिर पड़े । परन्तु प्रमत्त बना—सा दुश्शासन
 परमावेक्षापूर्वक करने लग पड़ा हरण
 द्रौपदी—चीर का ।

निरवलंब ‘मां’ निश्चेतन,
 अंतरस्थ ज्योति में लीन, जगत्—सुधि—विस्मृत—मन,
 एकात्मक हुई ‘हरि—हरि—हरि’ जपने लगी : “शरण
 दो शरण कृष्ण, मैं शरण तुम्हारी परमात्मन् !
 जल में करके गज—ग्राह ग्राह का प्राण—हरण,
 व्रजराज, तुम्हींने लाज रखी, गजराज—शरण !
 घनश्याम, तुम्हींने कालिय के फण पर नर्तन
 या किया । विश्वरूपी, विराट्, विभु, हे भगवन्,
 अविवेच्य तत्त्व तुम वेद—वेद्य ! प्रभु, शरण शरण !

तुम हो अनादि, तुम हो अनंत ! तु, हे कण्णन् ,
 हो ज्ञानातीत अलौकिक तत्त्व ! जगल्लोचन—
 लोचना ज्योति के भी ज्योतिर्मय आदि—करण !
 शरणागत हूं, मेरी विनती सुन लो, कण्णन् !
 उत्तरो अनंत से अंतस्तल में, गरुड़ासन ,
 हो लो प्रविष्ट, तेजोमय ज्योतिर्मय कण्णन् !

^{१५} अनंतर्भुक्त उपशीर्षक: ‘(६८) विकर्ण—वचन;’ और ‘(६९) कर्ण का प्रत्युत्तर’ ।

मेरे मन के आलोक, जगत्त्राता कण्णन् !
त्राणार्थ शरण हैं, नाथ, तुम्हारे कमल-चरण !
शरणागत मैं ! हरि हरि हरि हरि !” सांजलिबंधन
थी पांचाली सुध-बुध भूली हरिमयचेतन ।

हरि ने भी सुन ली ।

ज्यों-ज्यों दुर्जन दुश्शासन
हठ कर उधेड़ता गया चीर, त्यों-त्यों वर्द्धन
होता ही गया वसन का ! कृष्ण-कृपा कारण !
शठ-दुख, सुकृती-यश के समान बढ़ चला वसन
नारी-मन की करुणा-समान बढ़ चला वसन !
उत्ताल महासागर-तरंग-सा बढ़ा वसन !
बढ़ता ही रहा अपरिमित अगणितवर्ण वसन ।

हर्षित सुर 'भारतशक्ति जयति जय' उच्चारण
कर अंतरिक्ष से करने लगे सुमन-वर्षण ।
श्रद्धांजलिबंधन-सहित आर्य शांतनुनंदन
उठ खड़े हो गए छोड़-छाड़ अपना आसन ।
कर जोड़ सभा के क्षत्रवीर बोले सविनय :
'जय ओउम् शक्ति ! जय ओउम् शक्ति
जय जय, जय जय !”

तब राजधर्म से विच्युत अहिलांछनकेतन
अवनतमस्तक हो रहा विगतमद दुर्योधन !

(71) भीम की शपथ

उठे भीम । बोले : “लेता हूं मैं अमरों की शपथ,
पराशक्ति की, पद्मनाभ-पदपद्मवरों की शपथ,
कुलदैवत श्रीकांत कृष्ण के श्रीचरणों की शपथ,
मदनदहनयनाग्नि-कालजित्-शिवचरणों की शपथ :

धृष्ट उक्ति पावक-पावन पांचाली से जिसने की ।
'आओ, मेरी गोद बसो,' उस विगतलज्ज पिल्ले की,

उसका पुरुष विगतपौरुष दुर्योधन के बच्चे की,
रण में अपने भुजबल से गंजना न यदि मैंने की,
उसको निष्कृष्य निष्प्रभ करके इन्हीं नृपों के सम्मुख
चूर्णजंघ करके यदि मारा नहीं, और यदि दुर्मुख
दुश्शासन की भुजा न काटी, तो मैं भीम नहीं हूँ !
उसकी रूधिरधार—मदिरा पीउंगा सरुचि, ब्रती हूँ !
यह सब होना है !—इसको समझो गर्वोक्ति न मेरी ।
यह अमोघ देवोक्ति ! पराशक्ति हे, कृपा हो तेरी !

(72) अर्जुन की शपथ

उठे पार्थ । बोले : “अपने प्रिय मित्र कृष्ण की शपथ,
पुण्यतीर्थ भगवान् शुद्धयश महाविष्णु की शपथ,
आयतनयना द्रुपदसुता के नयनचाप की शपथ,
और चंड गांडीव चाप अरि—प्राण—ताप की शपथ :

अर्जुन नहीं, किया रण में पापी कर्ण न निहत !
समर—कला का चमत्कार देखोगे तब हे जगत् !”

(73) पांचाली की शपथ

देवी द्रुपदसुता ने भी ली शपथ :
“ओउम् देवी पराशक्ति की शपथ,
महापातकी दुश्शासन का रूधिर,
अभिसंपाती दुर्योधन का रूधिर,
लेकर जब तक सिक्त न कर लूँ अलक
तब तक अपने कभी न बांधूँ अलक !
शोणित—भ्रक्षण के उपरांत स—तैल
स्नान असत्—स्पर्शनाशौच का मैल
जब काटेगा, तभी केशविन्यास
सरुचि करुंगा सालंकरण—सुवास !”

तभी देववाणी का गर्जन ‘ओउम्’
घहराया ; घहराया घन—घन ‘ओउम्’ !
भूमि कंपी ; बह चला प्रभंजन घोर,

रज-धूसरित हुआ नभ चारों ओर !
पंच तत्व ने साक्ष्य दिया प्रत्यक्ष :
'आज धर्म का पक्ष हमारा पक्ष !'

कथा समापन किया ; शुभानुध्यान
यही हमारा : जग का हो कल्याण ;
सदा बढ़ें सुख ही सुख, मिटें विकार ;
सुख ही सुख में सदा रमे संसार !